International Journal of Scientific Research in Science and Technology
Print ISSN : 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X (www.ijsrst.com)

श्रीमद्भगवद्गीता एवं भक्तियोग

डॉ. साधना दौनेरिया
विभागाध्यक्ष, योग विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल,मध्य प्रदेश, भारत।

डॉ. माधवी चन्द्रा,
शोधार्थी, योग विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, मध्य प्रदेश, भारत।

Article Info
Volume III, Issue II
Page Number : 356-360
Publication Issue :
March-April-2010
Article History
Accepted : 12 April 2010
Published : 30 April 2010

प्रस्तावना : – देवदुर्लभ मानव शरीर को स्वस्थ रखे बिना प्राणी अपने लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाता। कर्म, ज्ञान, भक्ति और चतुर्विध पुरूषार्थ के समुचित साधन स्वस्थ जीवन में ही सम्भव हो सकते हैं। आजकल शारीरिक तथा मानसिक भोगविलास के प्रसाधनों की इतनी विपुलता हो गयी है कि सामान्य मानव मानसिक शान्ति और शारीरिक स्वास्थ्य से दिनों–दिन विमुख एवं वंचित होता जा रहा है। जीवन कि अतिव्यस्तता विलासिता या इन्द्रिय लोलुपता के कारण मानसिक अस्वस्थता बढ़ती जा रही है। श्रीमद्भगवद्गीता में मानसिक स्वास्थ्य को प्राप्त करने के विभिन्न अनुशासन प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। जिन्हें उपासना अथवा साधना की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। साधना की इन प्रणालियों में कर्मयांग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में दिया है।

विषय–प्रवेश :– आधुनिक विज्ञान ने मानव को इतनी तीव्रता से भौतिक वाद और विलासिता की ओर अग्रसर किया है जिससे सम्पूर्ण विश्व में मानव को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। जिसके कारण वह मानसिक अशांति का शिकार होता जा रहा है। आज विश्व में अनेक मानसिक रोगों का प्रादुर्भाव हो गया है। जिसके निराकरण एवं मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए श्रीमद्भगवद्गीता एक सशक्त माध्यम है। परमात्मा ने अत्यन्त दुस्तर भवार्णन को पार कर अपने परम् कल्याण की प्राप्ति हेतु मनुष्यों के लिए कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के रूप में तीन प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करने की विधि बतायी है। अधिकारी भेद से इन तीनों मार्गों की व्यवस्था की गई है। इनके अतिरिक्त मानव के आत्यन्तिक कल्याण के लिए और कहीं भी कोई दूसरा उपाय उपलब्ध नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण ने नर के नारायण बनने की साक्षात् विधि बताने के उद्देश्य से अर्जुन रूपी नर को निमित्त बनाकर इन्हीं तीनों योगों का उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता में दिया है।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

भक्तियोग :– गीता निरंतर अव्याप्त रूप से इस शिक्षा पर जोर देती है कि भगवत्प्राप्ति के साधन का सार ऐसी अनासक्ति और भक्ति है जिससे कर्म नैष्कर्म में प्रतिफलित होता है। यज्ञ, दान ओर तपरूप कर्म चित्तशुद्धि के साधन हैं और सच्चा त्याग संगत्याग और फलत्याग है। यह सात्विकता ही उस साधक की कांक्ष्य होती है जिसका लक्ष्य दुःखनिवृत्ति है। सांसारिक का जन्म ही दुःख से जुड़ा हुआ है। दुःखनिवृत्ति के लिए पुनर्जनम से मुक्ति परमावश्यक है। पुनर्जन्म से निजात पाने के लिए ब्रह्मज्ञान ही एकमात्र साधन है।

प्रश्न है कि ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो? केवल जानना अथवा विश्वास करना कि ईश्वर है, उसने चराचर जगत् सृजा है, वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, कोई अर्थ नहीं रखता। हमें उसका अनुभव करना होगा। हमें उसे देखना है। आत्मा का प्रत्यक्ष होना परमावश्यक है। आँखें उसे देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते। उसका दर्शन तभी संभव है यदि वह स्वयं हमें दर्शन देने की कृपा करें। हम उसका अनुभव तभी कर सकते हैं ज बवह हमें अनुभव करने की शक्ति प्रदान करे। वह हमें यह शक्ति तभी प्रदान करता है जब उसकी कृपा होती है। वह परम दयालु है। हम उसकी कृपा के पात्र नहीं बन पाते क्योंकि हम वह चाहते ही नहीं। हम चाहते हैं सांसारिक सुख। यदि हम उसकी कृपा का संपादन चाहते हैं तो हमें उसकी भक्ति ही करना होगी। हम उसके प्रति समर्पित है, इसके प्रतिपादन के लिए हमें उसके आदेशों का पालन करना होगा। कर्म अत्यावश्यक है। अतः ज्ञान लाभ के लिए, भक्ति करना ही होगी। भक्ति लाभ के लिए हमें कर्म करना ही है। पहले कर्म, फिर भक्ति और फिर ज्ञान।

कर्म का अभिप्राय सर्वत्र आत्मानुशासन से है। हमें एक विशिष्ट ढंग से काम करना है, एक विशिष्ट तरीके से सोचना है। अपने कर्म और अपने सोच में हम ऐसी भावनाओं और आवेश को स्वच्छन्द खेलने का अवसर प्रदान नहीं कर सकते। इस जन्म में ही नहीं, अपने हजारों पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों का प्रतिफल भुगतना होता है जो या तो सुखात्मक होते हैं या फिर दुःखात्मक। इनमें उचित और अनुचित कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। अपने शुभ–अशुभ कर्मों का फल हमें इसी धरा पर, स्वर्ग में अथवा नरक में अनुभव करते हैं। हमारे कर्मों की प्रवृत्ति ही शुभ–अशुभ की ओर होती है। इनको प्रवृत्त करने वाला काम है, क्रोध है जो रजोगुण से उद्भूत है।

इस काम पर, क्रोध पर कैसे जय प्राप्त होगी? काम और क्रोध वे दूषण है जो ईश्वर के साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न करते हैं। कर्म का सही दिशा में, सही रीति से निष्पादन ही काम–क्रोध को जीतने के साधन हैं और उसी से मनःशुद्धि हो सकती है। कर्म की दशा–दिशा शास्त्रों द्वारा तय है। क्या करना चाहिए, यह विधि है और क्या नहीं करना चाहिए, यह निषेध। शास्त्रों में विधि–निषेध का पालन अत्यावश्यक है। जीवन में अपने आचरण की विधि निषेधात्मकता स्वयं के सोच और चाह से तय नहीं की जा सकती। हमारे अपने निर्णय और हमारे अन्तःकरण की चाहना हमारी बुद्धि की अभिव्यक्ति होते हैं और बुद्धि आसक्ति और पूर्वाग्रहों का आश्रयस्थल होती है। कोई विद्वान, बुद्धिमान अथवा सज्जन पुरुष भी आसक्ति और पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो सकता। भूल करना, गलती करना मानव स्वभाव है। एक परमात्मा ही है जो भूल–चूक से परे है।

श्रीकृष्ण इसीलिए कहते हैं कि मनुष्य को परमात्मा का अनुभव इसलिए नहीं होता क्योंकि वह अपने ही मोह में अन्धा होता है। अगले ही श्लोक में गीता खुलकर सामने आती है कि वह माया ही है, ईश्वर की शकित जो मानव–मन में विकार उत्पन्न करती है और उससे मुक्त होने का एक ही उपाय है – ईश्वर की भक्ति।

ईश्वर की भक्ति उन्हें ही प्राप्त होती है जो पुण्यकर्मा होते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुंच जाते हैं कि कर्म भक्ति–प्रदाता है और भक्ति ज्ञानदायी। जो पुण्यकर्मा उनके कालक्रम से पूर्वजन्मों के कल्मष क्षीण हो जाते हैं तभी वे स्वस्थ और सुस्थिर चित्त ईश्वर की अर्चना करते हैं। जो साधक ईश्वर की शरणागत होते हैं, जरा–मरण के कष्ट से छुटकारा पाने का यत्न करते हैं, वे ही मुझे पूर्णतः जान सकते हैं। गीता का तो यहां तक कथन है कि कर्म अकेला सीधे ज्ञान का साधक नहीं हो सकता। कर्म और ज्ञान के बीच में भक्ति की भूमिका होनी ही चाहिए। ज्ञान भक्ति के मार्ग से होकर ही लभ्य है। यदि बिना भक्ति के कर्म किया जाता है अर्थात् लौकिक ऐषणाओं के लिए किया जाता है तो कर्म भक्ति से समन्वित नहीं हो सकता और फिर ज्ञान प्राप्त ही नहीं होता। गीता का कथन इसी तथ्य का पोषण करता है जब वह अर्जुन से कहते हैं कि जिस प्रकार तुमने चतुर्भुजरूप देखा है, वह न वेदों से देखा जा सकता है, न व्रत से, न दान से और न यज्ञ से। मुझे तो अनन्य–भक्ति से अनुभव किया, देखा और तत्वतः जाना समझा जा सकता है।

अनन्य भक्ति का स्वरूप विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला हो, मेरा भक्त हो, आसक्ति रहित हो, भूतजगत में वैर–भाव रहित हो, वही मुझे प्राप्त कर सकता है। इसे और अधिक बोध्य बनाने के लिए ही जैसे गीता कहती है कि जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, तप करते हो, वह सब मुझे अर्पित कर दो। स्पष्टतः इस विधि के द्वारा मनुष्य के कर्तापन का ही नहीं, उसके स्वत्व का भी हरण कर लिया गया है। गीता इसे स्वीकार करती है कि इस विधि से वह 'शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनों से मुक्त हो जायेगा और कर्मत्याग रूप से योग से युक्त आत्मावाला विमुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा।

फल की कामना से मुक्त होकर किया गया निस्पृह दत्तचित्त कर्म, कर्म की संज्ञा से ऊपर उठ जाता है। इससे योग की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। अन्यान्य योगों की अपेक्षा श्रेष्ठतर परिप्रेक्ष्य में पर्यवसित होने के कारण भक्तियोग की उपाधि प्राप्त हो जाती है। अन्यान्य योगों और भक्तियोग में मुख्य अन्तर यह है कि अन्यान्य योग व्यभिचारी होते हैं किन्तु भक्तियोग अव्यभिचारी है। योगेश्वर का स्वयं का अभिमत है –

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स् गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

और जब जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, तब न वह सोचता है, न आकांक्षा करता है। वह भूत मात्र में समान भाव रखता हुआ परमात्मा की पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट है कि भक्तियोग की ही अपर संज्ञा साधन भक्ति है जिसके द्वारा पराभक्ति का अधिकार प्राप्त हो जाता है। भक्ति योग परमात्मा के भावराज्य का अधिकार क्षेत्र है और सर्वसुलभ है।

''श्रीमद्भगवद्गीता को किसी ने कर्मपरक, किसी ने ज्ञानपरक और किसी ने भक्तिपरक बतलाया है। वैष्णव आचार्यों ने इन तीनों का समन्वय कर इस महोपनिषद् को प्रपत्तिपरक बतलाया है। श्री निम्बार्काचार्य द्वारा लिखे गीताभाष्य पर श्री केशव महाचार्य ने जो तत्व प्रकाशिका टीका लिखी, वह भी गीता को प्रपत्ति परक स्वीकारता है।'' अर्जुन के 'शिष्यतेऽहं शांधि मां त्वां प्रपन्नम' को शरणागति का अर्थात् प्रगति का बोधक माना गया है किन्तु जब 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकंशरणं व्रज' कहा जाता है तब 'रक्ष्यिष्यतीति विश्वासः' की नींव रख जाती है जो प्रपत्ति को सम्पूर्णतः वाचकता प्रदान करता है। 'संशयात्मा विनश्यति' को ध्यान में रखकर जब 'सर्वभूतस्थितं यो मां पश्यति' का ज्ञान धारण कर लिया जाता है, तभी प्रपत्ति को सार्थकता प्राप्त होती है और भक्ति को भी। वस्तुतः प्रपत्ति और भक्ति में जो मौलिक भेद बताया जाता है कि 'भगवान के ऊपर अपना सब भार छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाने का नाम प्रपत्ति है ओर अपने उद्धार के लिए भगवान की सेवा प्रार्थना करना भक्ति है। यह भेद सूचीभेदन्याय जैसा है जिसे विभेदित करना बलात् संशयग्रस्त होना है। संशयात्मा विनश्यति के द्वारा ही भक्ति के मूल सूत्र 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की चरितार्थता प्राप्त की जा सकती है।

निष्कर्ष :– स्वामी शिवानन्द भक्तियोग को ईश्वरानुभूति का सरलतम मार्ग बताते हुए ईश्वर के अस्तित्व में आस्था को भक्ति की आधारशिला मानते हैं। तथैव ईश्वरीय ध्यान में निरंतर रमण भक्तियोग का प्रधान लक्षण है। इसलिये मय्येव मन आधत्स्व मयबुद्धिं निवेशय कहकर भक्तियोग को पूर्णता प्रदान कर दी गई है जिसमें प्रपत्ति का योग स्पष्ट भासित है। वस्तुतः स्नेह–रस ही भक्तिरस है। आनन्द की ही एक किरण स्नेह है और भगवान स्वयं आनन्द स्वरूप है। अपने आपको परमात्मा पर छोड़ देना प्रपत्ति है अर्थात् आनन्दस्वरूप हो जाना है। इस तरह भक्ति और भगवान में जो अभेदाभेद स्थापित हो जाता है, वही भक्ति और प्रपत्ति में अभेद स्थापित कर देता है।

ग्रन्थ :

1.तिलक, बालगंगाार, श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, गीता प्रेस गोरखपुर, 2006
2.प्रभुपाद, स्वामी, श्रीमद्भगवद्गीता, भक्तिवेदान्त बुकट्रस्ट, 2002
3.रामसुखादास, स्वामी, भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1980
4.सान्याल, भूपेन्द्रनाथ, श्रीमद्भगवद्गीता भाग–1, 2, 3, गुरूधाम प्रकाशन गीता, 2005
5.अरविन्द, श्री – गीता प्रबन्ध, श्री अरविन्द सोसायटी पांडिचेरी, 1954
6.अग्रवाल, विनयकुमार, गीतोपनिषद्, पुस्तकमहल, दिल्ली, 2007
7.ओंकारानन्द, सरस्वती, स्वामी, गीता मानस और अपरोक्षानुभूति बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, 1994.
8.प्रेम कृष्ण, भगवद्गीता का योग, पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1984.
9.राधाकृष्णन. एस, भगवद्गीता, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1972.

10.विवेकानन्द. स्वामी, कर्मयोग श्रीरामकृष्ण मठ, नागपुर, 2006.

11.ओमानन्दतीर्थ, स्वामी, पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर, 1988.

12.करम्बेलकर, पी.बी., पातंजल योगसूत्र, कैवल्यधाम, लोनावला, 2005.